ISSN 2229-6328
भाग षट्त्रिंश चतुर्थ खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका

गोपथ ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः षट्त्रिंश चतुर्थ खण्ड (वि. सं. २०७८)

गोपथ ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अक्टू.- दिस. २०२१ मूल्य १००.००

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,

मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)

दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:

pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: षट्त्रिंश, चतुर्थ खण्ड

अक्टू.-दिस.२०२१

• प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु

०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र

०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः १,९७,२९,४९१२२ गते**

• **सृष्टि आदितः १,९६,५८,८५१२२ गते**

• **युगाब्द ५१२२**

• **दयानन्दाब्द १९५**

सम्पादकीयम्

वेदों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्यों को समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ परम सहायक हैं। हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, विधिज्ञापन तथा ऐतिहासिक घटनाओं के द्वारा वेदों के निगूढ़ रहस्यों को अनावृत करने में ब्राह्मण ग्रन्थों की भूमिका अप्रतिम है। पावमानी के विगत कई अङ्कों में सुधी पाठक ब्राह्मण ग्रन्थों के महत्त्व से अवश्य परिचित हुए होंगे। यह अङ्क गोपथ ब्राह्मण के ज्ञान भण्डार से कुछ प्रकाशपुञ्ज लेकर वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से सम्बद्ध उपलब्ध एकमात्र ब्राह्मण ग्रन्थ है। अथर्ववेद की नौ शाखाओं में से सौभाग्य या दुर्भाग्य से केवल दो शाखाएँ- शौनक एवं पैप्पलाद शाखा ही आज हमें उपलब्ध हैं। अन्य सात शाखाएँ हमारे प्रमाद एवं अकर्मण्यता के साथ-साथ ही विदेशी कुचक्रों से नष्ट हो गईं, हम उनमें निहित विपुल ज्ञान-विज्ञान से वञ्चित हो गये। अथर्ववेदीय जो साहित्य अवशिष्ट है, उससे भी देश के कुछ गिने चुने वेद मनीषी ही परिचित हैं। राष्ट्र के भावी कर्णधार इस ज्ञान परम्परा से इसकी महत्ता से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। ऋषियों का आदेश था, ज्ञान के उपासकों को व्याकरण निरुक्त आदि छह अङ्गों सहित चारों वेदों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। अथर्ववेद के विषय में शास्त्रों का कथन है कि जिस राष्ट्र में अथर्ववेदज्ञ विद्वान् निवास करते

हैं, वह राष्ट्र निरुपद्रव होकर उन्नति करता है-

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः।

निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्॥ अथर्वपरिशिष्ट ४.६.१

अथर्ववेद में विविध ज्ञान-विज्ञान के सूत्र समाविष्ट हैं, इनका उद्घाटन गोपथब्राह्मण में किया हुआ है।

गोपथ ऋषि विरचित होने से यह ब्राह्मण गोपथ-ब्राह्मण कहलाता है। वैदिक साहित्य में गो शब्द, पृथिवी, भूमि, किरण, इन्द्रिय, गो, दुग्ध, दधि, सुख इत्यादि अनेक अर्थों का वाचक है, इनकी प्राप्ति का पथ-मार्ग गोपथ है। गोपथ ब्राह्मण भौतिक राज्यादि सुख प्राप्ति का पथ प्रदर्शक होने के साथ-साथ अमृतत्व का भी पथ प्रशस्त करने वाला है। गोपथ ब्राह्मण प्रारम्भ में ही ओङ्कार के मर्म को स्पष्ट करते हुए उसके व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालता है। यहाँ ओम् को चतुर्मात्र प्रतिपादित कर चतुष्पाद् आत्मा से उसका सादृश्य उपस्थापित किया गया है। इसमें ओङ्कार से ही सृष्टि उत्पत्ति भी वर्णित है। ओङ्कार से सृष्टि उत्पत्ति कैसे हुई? यह एक गहन शोध का विषय है। आधुनिक विज्ञान भी अपने बिग बैंग सिद्धान्त की खोज के साथ-साथ धीरे-धीरे इन सिद्धान्तों की ओर अग्रसर हो रहा है।

द्वितीय प्रपाठक के प्रारम्भ में ब्रह्मचारी की महिमा तथा ब्रह्मचारी के नियमों एवं कर्तव्यों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। ब्रह्मचारी अपने तपोबल से, जितेन्द्रियता से, परिश्रम से, कर्तव्यनिष्ठा से, तीनों लोकों का पालन करता है। राजा भी ब्रह्मचर्य से राष्ट्र की रक्षा करता है। ब्रह्मचर्य के बल से देवता लोग मृत्यु को भी जीतकर अमर हो जाते हैं। गोपथब्राह्मण का ब्रह्मचर्य विषयक सन्देश विश्व के विद्यार्थियों के जीवन को सुसंस्कृत परिष्कृत कर एक दिव्यता एवं भव्यता सम्पन्न समाज बनाने में परम सहयोगी हो सकता है।

यहाँ विवृत यज्ञविज्ञान विषयक अनेक सिद्धान्त संसार को त्रितापों से मुक्त कर सकते हैं। वैदिक परम्परा में यज्ञ सभी के लिए अनिवार्य कर्तव्य है। यज्ञानुष्ठान प्रकृति में सामञ्जस्य स्थापित कर समस्त अभीष्ट सुख-शान्ति प्रदान कर सकता है। यज्ञानुष्ठान से पूर्व हम सभी यज्ञ के लिए दीक्षित होते हैं। दीक्षित की व्युत्पत्ति बताते हुए गोपथ ऋषि लिखते हैं- जो श्रेष्ठ बुद्धि में स्थित है, वह व्यक्ति दीक्षित है। हम सभी दीक्षित होकर श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न होकर मरण अर्थात् छिद्ररहित दोषरहित होकर यज्ञीय कर्म करें तो यह संसार ही स्वर्ग बन जायेगा तथा आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, युद्धविभीषिका तथा सभी प्रकार के दुःख दारिद्र्य नष्ट हो जायेंगे।

गोपथब्राह्मण के ज्योतिर्विज्ञान विषयक अनेक सिद्धान्त वैज्ञानिक को भी चमत्कृत करने वाले हैं। गोपथ ब्राह्मण उत्तरभाग ४/१० में स्पष्ट लिखा है- पृथिवी घूमती है, सूर्य कभी अस्त नहीं होता, घूमती हुई पृथिवी की ओट में सूर्य छिप जाता है- **न कदाचनास्तमयति नोदयति...**।

आधुनिक वैज्ञानिक युग प्रारम्भ होने से हजारों वर्ष पहले हमारे तत्त्वदर्शी पूर्वजों द्वारा अनुभूत विज्ञान पर हम लोग गर्व कर अपने आत्मगौरव को बढ़ायें, तभी हम विश्वगुरु पद पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं।

गोपथ ब्राह्मण अनेक शिक्षाप्रद सूक्तियों द्वारा योग्यता, सत्यनिष्ठता आदि जीवनोन्नायक तत्त्वों एवं पारिवारिक, सामाजिक दायित्वों का बोध कराता है। गोपथ का कथन है- ऋत्विजों को तेजस्वी, सत्यनिष्ठ एवं योग्य होना चाहिए नही तो यजमान वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे कच्चे मिट्टी के घड़े में पानी भर देने से घड़ा नष्ट हो जाता है- **यथा मृत्पात्रम् उदक आसिक्ते नूर्मृज्येत एवं यजमाना...**।

आज हमारे पितर लोग परिवारों से बहिष्कृत तिरस्कृत हो वृद्धाश्रमों में रहने के लिए विवश हो विविध कष्ट भोग रहे हैं, ऐसे पितरों

के सम्मान न करने वालों को गोपथकार कह रहे हैं- बचपन हमारा पितरों पर आश्रित होकर पला बढ़ा, अब हम योग्य हो गये, हमारा दायित्व है कि हम पितरों का आश्रय बनें, उनकी सेवा शुश्रूषा करें- **पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति उपोत्तमे वयसि पुत्रान् पितरोपजीवन्ति य एवं वेद...** (गो.पू. ४/६)।

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण का एक-एक वचन मानव जीवन तथा समाज का कायाकल्प करने में सक्षम है। आवश्यकता है अपने ऋषियों के इन ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार एवं अनुपालन की। आप सभी के सहयोग से स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान सतत् इस दिशा में अग्रसर है। विश्वकल्याण कारक वैदिक साहित्य का स्वाध्याय एवं प्रवचन कर हम सभी इस दिव्य परम्परा के संवाहक एवं सम्पोषक बनें।

इन्हीं कामनाओं के साथ...

प्रो. सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

गोपथगतानि निर्वचनानि : एको विमर्शः

डा० धनञ्जय कुमार आचार्यः[१]

सञ्जयमठपालः[२]

किं च नाम निर्वचनम्? तदत्रोच्यते - वर्तमानस्वरूपादारभ्य मूलस्वरूपं यावच्छब्दानां का गतिरिति विवेचनम्। व्युत्पत्तौ तु केवलं प्रकृतिप्रत्यययोः स्पष्टता ज्ञायते। परं निर्वचने ध्वनिमाश्रित्य सर्वमपि इतिवृत्तं शब्दस्य विज्ञाय मूलार्थस्य ऊहा क्रियते। येषां शब्दानां प्रकृतिप्रत्ययौ स्थानभेदेन कालभेदेन वा परिवर्तितौ तेषां व्युत्पत्तीनामन्वेषणं निर्वचनविज्ञान एव क्रियते। निर्वचनेन पदानां स्वरूपं तथैव प्रकटीभवति यथा सूर्यालोकेन लौकिकानां पदार्थानां रूपम्।

निर्वचनस्वरूपं प्रतिपादयता दुर्गाचार्येणाभिधीयते-

'अपिहितस्यार्थस्य परोक्षवृत्तावतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्'[३]।

अथाननुगतेऽर्थे शब्दतः साक्षादज्ञातेऽसंङ्गतेऽर्थे प्रविभक्तदेशभावस्वरसंस्काररहिते विकारे पदेऽर्थं नित्यं परीक्षेत[४]। यतो

---

[१] सहायकाचार्यः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली

[२] शोधच्छात्रः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली

[३] दुर्गाचार्यवृत्तिः- २.१

[४]निरुक्त-२.१-अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।

न हि वेदशब्दाः अर्थहीनाः इत्यर्थं संलक्ष्य पदं परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन प्रवृत्तिसामान्येन वार्थं स्पष्टतया निर्ब्रूयात्।

तृतीयोऽत्र प्रकारः- **'अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान् निर्ब्रूयात्'**[५]। वृत्तिसामान्ये अविद्यमानेऽपि अक्षरसामान्यात् वर्णसामान्यात् खलु निर्ब्रूयात्। **न संस्कारमाद्रियेत**[६]। विशयवत्यो हि वृत्तयो पदवृत्तयो भवन्ति तस्माद् यथाभिप्रायं पदविभागान् सङ्कल्पयेत्। दुर्गाचार्यः च अक्षरवर्णसामान्याद् निर्वचनानां भेदं परम्परया प्राप्तायाः[७] अधोल्लिखितकारिकायाः माध्यमेन ज्ञापयत्येवम्-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।

धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

वर्णागमो वर्णविपर्ययो वर्णविकारो वर्णनाशः धातोश्च तदर्थातिशयेन योग इति पञ्चविधं निरुक्तप्रकारमिति। यत्र निर्वचनस्य स्कन्दाचार्योक्तानां पञ्चप्रकाराणां स्थाने, दुर्गाचार्यः तस्य त्रित्वमेवाङ्गीकरोति। यतः तदनुसारं लोप आगमो विकारो विपर्ययश्च इत्येते प्रकाराः विपर्ययान्तर्गता एव भवन्ति।

रचनादृष्ट्या शब्दानां नानाभेदास्सन्ति। अतस्तेषां निर्वचनं समानरीत्या कर्तुमशक्यम्। पदेषु खलु प्रत्यक्षपरोक्षातिपरोक्षविभागा भवन्ति। ते सर्वे निर्वचन-विधानमपेक्षन्ते। अतस्तन्निर्वचनप्रकारं निर्दिश्यते-

तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्[८]।

---

[५] निरुक्त- २.१

[६] निरुक्त- २.१

[७] काशिकावृत्ति-६.३.१०९

[८] निरुक्त-२.१

निर्वचनपद्धत्यैव वयं वेदसंहितानां ब्राह्मणारण्यकोपनिषदां च अर्थान् ज्ञातुं समर्थाः। शब्दानां निर्वचनानि न केवलं निरुक्ते अपितु अन्यविधेऽपि वैदिके वाङ्मये दृङ्गोचरीभवन्ति। संहिताः अपि अत्रापवादत्वं न भजन्ते। ब्राह्मणेषु तु एतस्य निर्वचनविज्ञानस्य किमपि समृद्धमेव रूपं निरूपयितुं शक्यम्। गोपथब्राह्मणगतानि कानिचित् निर्वचनानि प्रेरणयानयैव पत्रेऽस्मिन् विमृश्यन्ते।

समुद्रः

गोपथब्राह्मणे सृष्टिवर्णनप्रसङ्गे समुद्रस्य वर्णनं प्राप्यते। तन्मात्राः रेतः भूत्वा सर्वव्यापकमात्मानम् आवृत्य अतिष्ठन्। ताः सर्वतः प्राच्युदीचीप्रतीचीदक्षिणातः यत् अद्रवन्त तस्मात् सर्वव्यापको विभुः समुद्र इत्युच्यते। '**तद्यत्समवद्रवन्त तस्मात्समुद्र उच्यते**' इति[९]।

जैमिनीयब्राह्मणे वायुरपि समुद्र इत्युच्यते यतः सः पवमानः सर्वाणि भूतानि अनुसंद्रवति[१०]। शतपथब्राह्मणेऽपि वायुः समुद्रनाम्नाभिधीयते[११]।

निरुक्तेऽपि शब्दोऽयं पञ्चधा व्याख्यातः। तत्र प्रथमव्याख्याने समानव्युत्पत्त्यैव[१२] वीचि-तरङ्ग-शीकरादिभावेन सं-सङ्गता उत्-ऊर्ध्वं द्रवन्ति गच्छन्ति अस्मादापो रश्मिभिराकृष्यमाणा आदित्यमण्डलम् इत्यादिव्याख्यारूपात्मिकया समुत्पूर्वाद्द्रवतेर्गत्यर्थकात्[१३] 'अन्येभ्योऽपि

---

[९] ता या अमू रेतः समुद्रं वृत्वाऽतिष्ठंस्ताः प्राच्यो दक्षिणाच्यः प्रतीच्य उदीच्यः समवद्रवन्त। तद्यत्समवद्रवन्त तस्मात्समुद्र उच्यते। गोपथब्राह्मणम् १.१.७

[१०] य एवायं (वायुः) पवत एष स समुद्रम् एतं हि संद्रवन्ते सर्वाणि भूतान्यनु संद्रवन्ति। जैमिनीयब्राह्मणम् १.२५.४

[११] अयं वै समद्रो योऽयं (वायुः) पवतऽएतस्माद्रे समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्रवन्ति। श.ब्रा. १४.२.२.२

[१२] समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

[१३] पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

दृश्यते'[१४] इत्यपादाने डप्रत्यये टिलोपे च समुद्रशब्दोऽयं ग्रन्थकृता ऋषिणा निरुक्तः ।

तत्रैव द्वितीयव्याख्याने[१५] सर्वा एव आपः मरुता प्रेर्यमाणा आदित्यमण्डलाद्वा प्रावृट्काले रश्मिभिः प्रेरिताः अधोगामित्वात् संहताः सत्य अमुं समुद्रमेवोदाभिमुख्येन द्रवन्ति प्राप्नुवन्ति इत्येवं व्याख्यातम् ।

तृतीये निर्वचने[१६] अस्मिन् समुद्रे भूतानि सर्वाणि सत्त्वानि जलचराणि बहुजलराशित्वादत्र सम्मोदन्ते आनन्दिताः भवन्ति इति व्याख्यानपूर्वकं समित्युपसर्गपूर्वकात् 'मुद हर्षे'[१७] धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चि... शुभिभ्यो रक्'[१८] इत्यनेन उणादिसूत्रेण अधिकरणार्थे रक्प्रत्यये पृषोदरादित्वात् समो मलोपे च रूपसिद्धिर्विधीयते।

तत्रैव चतुर्थे[१९] च तस्मिन् उद् इत्युदकपर्यायं मत्वा तदुदकं तस्मिन् संहतं भवति अस्मात् स समुद्रः । अथवा समित्येकीभावे उदकादुच्छब्दः रो मत्वर्थीये इति स्वीकृत्यापि शब्दोऽयं निरुच्यते। अथ च उदकशब्दस्योद्भावः सञ्ज्ञायां छान्दस इति कृत्वा एकीभूतमुदकमत्र वर्तते इत्यर्थेऽपि समुद्रशब्दो विविच्यते निरुक्तव्याख्याकृद्भिः ।

पञ्चमे च नैरुक्ते निर्वचने[२०] एतस्मात् आदित्यमेघादिमाध्यमेन प्रसारितैरम्भोभिर्वर्षारुपैः सकलोऽप्ययं संसारः सङ्क्लिन्नो भवति अतः

---

[१४]अष्टाध्यायी-३.२.१०१

[१५]समभिद्रवन्त्येनमापः। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

[१६]सम्मोदन्तेऽस्मिन्भूतानि। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

[१७]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[१८]उणादिपाठः-२.१३

[१९]समुदको भवति। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

[२०]समुनत्तीति वा। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

सम्पूर्वकाद् 'उन्दी क्लेदने'[२१] धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चि... शुभिभ्यो रक्'[२२] इत्यनेन उणादिसूत्रेण कर्त्तरि रक्प्रत्यये कित्त्वान्नलोपे च समुद्रः सिद्ध्यति।

कोशग्रन्थेष्वपि समुद्रशब्दस्यायमेवार्थः स्वीकृतः[२३]। यतः समुद्रवन्त्यस्मादापः।

रथः

गोपथब्राह्मणे ऋषिः वर्णयति यत् यदा प्रजापतिः ब्रह्मणे प्रदत्तं वैश्वानरं न्यपीडयत् तदा सः रसोऽभवत्। स एव रसः लोके रथनाम्ना प्रसिद्धोऽभवत्। तम् अग्निरूपस्याधेयकं रथं ब्रह्मणे च प्रायच्छत। सः प्रकाशमानः रथः होतॄन् जुषाणः हवींषि गृह्णाति। रस इति अपरनाम[२४]।

निरुक्तेऽपि रथशब्दोऽयं नैकधा विवेचितः। तेषु प्रथमे निर्वचने[२५] निरुक्तकारः गतिकर्मणः रहि धातोः[२६] करणार्थे क्थन्प्रत्यये[२७] बाहुलकाश्रयेण नकारहकारलोपे च निष्पन्नं रथशब्दं निर्वक्ति- रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। अर्थात् रंहति गच्छत्यनेनेति रथः।

तत्रैव द्वितीयव्याख्याने[२८] दृढगठिततत्वात्स्थिरत्वाद् वा तस्य रथस्य विपर्ययीकृतात् विपरीताक्षराद् वा स्थिरते इति नैरुक्ताद्धातोः 'पुंसि संज्ञायां

---

२१ पाणिनीयधातुपाठः-रुधादिगणः

२२ उणादिपाठः-२.१३

२३ अमरकोषः- १.१०.१

२४ ब्रह्मणे हि प्रत्तन्तस्य रसमपीड त् स रसोऽभवद्रसोह वा एष तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते। गोपथब्राह्मणम् १.२.२१

२५ रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४, निरुक्तम्-४.४, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

२६ पाणिनीयधातुपाठः-चुरादिगणः

२७ उणादिपाठः-२.२

२८ स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

घः प्रायेण'[29] इति सूत्रेण घप्रत्यये कृते सकारेकारयोर्लोपे च सति शब्दोऽयं निष्पद्यते।

तृतीये निर्वचने[30] शब्दस्यास्य निरुक्तिर्द्वाभ्यां धातुभ्यां कृता। तत्र निरुक्तकारेण रमतेस्तिष्ठतेश्च[31] धातोरिति अधिकरणार्थेप्रत्ययकल्पनाच्च द्विधातुजं रूपं स्वीकृतं निरुक्ते। तत्र व्युत्पत्तिश्च क्रियते रममाणो विस्रब्धोऽस्मिंस्तिष्ठतीति रथी[32] अर्थात् रथे यथा विश्वस्तो भूत्वा स्थातुमुपवेष्टुं वा शक्यते न तथा अश्वादिष्वन्येषु।

अपरे निर्वचने[33] रप व्यक्तायां वाचि[34] धातोः क्थन्प्रत्यये[35] बाहुलकाच्च पकारलोपे शब्दोऽयं निरुच्यते। चतुर्थे व्याख्याने चायं शब्दः रसते[36] रिति शब्दार्थकाद्धातोः यथापूर्वं क्थन्प्रत्यये शब्दायते ह्यसौ दूरत एव इति व्युत्पत्तिपूर्वकं निरूप्यते।

निरुक्ते प्रसङ्गद्वये[37] अयमेव रथशब्दः पूर्वोक्तात् गत्यर्थकात् रहि धातोरेव परञ्चार्थभेदेन मेघार्थे वर्णितः। तयोर्वर्णनयोश्चायं रंहणं

---

[29]अष्टाध्यायी-३.३.११८

[30] रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

[31] रमु क्रीडायाम्-पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः, ष्ठा गतिनिवृत्तौ-पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[32]रपतेर्वा। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

[33]रसतेर्वा। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

[34]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[35] उणादिपाठः-२.२

[36] पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[37] आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। निरुक्तम्-११.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४७२

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमाऽऽहुवामहे। निरुक्तम्-१२.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४९४

रंहणस्वभावं वोक्तम्।

एकलान्यत्र निरुक्ते[३८] रथशब्दोऽयं गर्तपर्यायत्वेनोल्लिखितः। तत्र निर्दिशति निरुक्तकारः रथोऽपि गर्त उच्यते। तद् यानं रथाख्यं स्तुततमं भवति अर्थाद् अन्येभ्यो अश्वादियानेभ्यो सुखतमं हि तेन गम्यते इति।

शब्दकोशेषु रथ इति शब्दः रमुँ क्रीडायां[३९] धातोः हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यःक्थन्[४०] इति औणादिकेन सूत्रेण क्थन् प्रत्यये कृते साध्यते तत्कर्तृभिः। रम्यतेऽनेनात्र वा इति। विभिन्नेष्वर्थेषु च रथशब्दः प्रयुञ्जते, यथा- वेतसे, रथे अभ्रपुष्पे पादे च। अन्यच्च याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गे स्यन्दने रथे[४१]।

पुरुषः

'पुर अग्रगमने'[४२] इति धातोः 'कुषन्' प्रत्यये सति पुरि देहे शेते इति शीङ्धातोः[४३] वा पुरुषः इति शब्दः निष्पद्यते। अग्रगामी परमात्मा पुरुष इतिरूपेण निरूपितम् ऋषिणा गोपथब्राह्मणे। अत्र वर्ण्यते यत् पुरुषः ब्रह्म इति, यः वैदिकसिद्धान्तरूपेण प्रतिष्ठितः। पुरुषः ऐश्वर्यवान् शुद्धस्वरूपब्रह्म इति विद्वद्भिः भणितम्। ब्राह्मणानुसारं शरीरे यद् जीवनसाधकं प्राणतत्त्वं संस्थितं तदेव तत्त्वं पुरुष इति। स पुरुष एव आत्मा परमात्माऽपि उच्यते[४४]।

---

[३८] रथोऽपि गर्त उच्यते। निरुक्तम्-३.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.११३

[३९] पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[४०] उणादिपाठः-२.२

[४१] अमरकोषः- २.४.३०, २.८.५१, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[४२] पाणिनीयधातुपाठः-तुदादिगणः

[४३] पाणिनीयधातुपाठः-अदादिगणः

[४४] तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं पुण्डरीकमिति प्राण एष स पुरि शेते स पुरि शेते इति। पुरिशयं

शतपथब्राह्मणे पुरुष इति शब्दः पुरिशयः इत्यस्माद् निष्पद्यते[४५], तत्र च पुरपूर्वकात् शीङ् स्वप्ने धातोः अच् प्रत्ययः पृषोदरादित्वात् डप्रत्ययो वा विधीयते। अन्यत्रापि वायुः पुरुष उच्यते शरीरे वर्त्तमानत्वात्[४६]।

निरुक्तकारेण यास्केनापि 'पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्'[४७] इत्यादिभिर्वचनैः 'पुरि ह्यसौ शेते' इति व्युत्पत्तौ 'अधिकरणे शेते'[४८] इत्यनेन सूत्रेण खश् प्रत्यये कृते प्रत्यक्षक्रियोऽयं शब्दः निरुच्यते।

विभिन्नैः शब्दकोशकारैरपि पुरुषशब्दोऽयम् एतस्मादेव धातोः परञ्च नानार्थेषु पठितः। यथा- क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः प्रधानं प्रकृतिः इत्यमरः[४९]। पुरति अग्रे गच्छतीति इति शब्दकल्पद्रुमः[५०]।

पुत्रः

पुत्रशब्दं निरुपयता ऋषिणा शब्दस्यास्य व्युत्पत्तिः पुत्पूर्वकात् त्रैङ् पालने[५१] इत्यस्माद् धातोः कप्रत्ययेन विधीयते। पुन्नाम नरकम् यच्च बहुविधाभिभवयुक्तं मन्यते। यः तस्मात् पुन्नामकात् नरकात् पितरं त्रायते सः पुत्र इति स्मृतः। ऋषिणा ब्रह्मणः स्वेदधाराभिः सृष्टिवर्णनप्रसंगे शब्दस्यास्य वर्णनं विहितं ब्राह्मणे[५२]।

सन्तं प्राणं पुरुष इत्याक्षते। गोपथब्राह्मणम् १.१.३९

[४५]स वाऽऽयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिषयः। शतपथब्राह्मणम् १४.५.५.१८

[४६]इमे वै लोका पूरयमेव पुरुषो योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरिशेते तस्मात् पुरुषः। शतपथब्राह्मणम् १३.६.२.१

[४७]निरुक्तम्-१.४, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.३४

[४८]अष्टाध्यायी-३.२.१५

[४९]अमरकोषः- २.६.१

[५०]शब्दकल्पद्रुमः, वाचस्पत्यम्

[५१]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[५२]यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्।

निरुक्तेऽप्ययं शब्दः[५३] समानादेव धातोः केवलम् उपपदवर्तिनः शब्दस्य फलतः अर्थस्यापि च भेदात् प्रदर्शितः। तत्र व्याख्याकाराः अमरकोशमुद्धृत्य[५४] पुरु इति बहुपर्यायत्वेनोदाहरन्त्यग्रे च वदन्ति यत् पित्राचरितेभ्यः भूयिष्ठेभ्योऽपि पापकर्मभ्यो यो रक्षति स पुत्र इत्यभिधीयते। एवं पुरुपूर्वकात् 'त्रैङ्पालने' धातोः 'आतोऽनुपसर्गे कः'[५५] इत्यनेन कप्रत्यये 'आदेच उपदेशेऽशिति'[५६] अनेन आत्वे 'आतो लोप इटि च'[५७] सूत्रेणानेन आलोपे पृषोदरादित्वात् रुलोपे च कृते पुत्रशब्दोऽयं निरुक्तः।

शब्दकोशेष्वपि अयमेवार्थः समर्थ्यते। आत्मजः पुत्र इत्यभिधीयते, सः जनकौ त्रायते पूतो नरकभेदात् इति[५८]।

मृत्युः

ब्राह्मणेऽस्मिन् मुचॢँ मोक्षणे[५९] इत्यस्माद् धातोः उप्रत्यये कृते साधितः मृत्युशब्दः। वरुणः यदा समुद्रात् सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् अमुच्यत तदा सः मुक्तोऽभवत्। तं मुक्तमेव वरुणं मृत्यु इति वदन्ति ऋषयः। मुच्युः नाम मृत्युरित्युक्तं ब्राह्मणे। स एव सर्वेषां त्याजयिता मारयिता वियोजको

गोपथब्राह्मणम् १.१.२

[५३]निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८२

[५४]अमरकोषः-३.१.६३,प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु। पुरुहं पुरु भूयिष्ठं स्फिरं भूयश्च भूरि च॥

[५५]अष्टाध्यायी-३.२.२

[५६]अष्टाध्यायी-६.१.४५

[५७]अष्टाध्यायी-६.४.६४

[५८]अमरकोषः- २.६.२७, वाचस्पत्यम्

[५९]पाणिनीयधातुपाठः-तुदादिगणः

वा कथ्यते ऋषिणा सर्वस्मात् पृथग्भूतत्वात्[६०]।

निरुक्ते[६१] मृत्युशब्दः अन्तर्भावितण्यर्थात् मृङ् प्राणत्यागे[६२] इत्यस्माद् धातोः 'युजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ'[६३] इति उणादिसूत्रेण त्युक्प्रत्यये कृते निष्पन्नो भवति। मृत्युर्मारतीति सतः मध्यमो नाम प्राणवायुः। स उत्क्रामन् शरीरादितरैः प्राणैः वियोजयति। एवं मारयति देहिनः। यतोहि विज्ञायते - प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति। अथवा यः मृतं च्यावयति स मृत्युः। य उपक्षीणायुर्भवति आसन्नमरणो वा। तमेषः मध्यमः प्राण शरीरच्च्यावयतीति आचार्यस्य मौद्गल्यस्य मतम्[६४]।

शब्दकोशकारैरपि मृत्युशब्दः प्राणवियोगार्थकः स्मृतः। शब्दोऽयम् अपरनामभिरपि प्रसिद्धो यथा- कालः प्रलयः अन्तो नाशो वा। म्रियते अस्मादिति मृत्युः इति[६५]।

वरुणः

आथर्वणेऽस्मिन् ब्राह्मणे ऋषिणा वृञ् वरणे[६६] इत्यस्माद्धातोः 'कृवृदारिभ्य उनन्'[६७] इति सूत्रेण उनन् प्रत्ययं गुणं णत्वञ्च कृत्वा वरुणशब्दः साधितः। यदा तन्मात्राः भीताः सत्यः राजानं गृहीत्वा अतिष्ठन्, तदा तं ग्रहणयोग्यमेव वरुण इति उक्तवन्तः। स्वीकरणीय

---

[६०] स समुद्रादमुच्यत स मृच्युरभवत्तं वा एतं मृच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते। परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। गोपथब्राह्मणम् १.१.७

[६१] मृत्युर्मारयतीति सतः। निरुक्तम्-११.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४६९

[६२] पाणिनीयधातुपाठः-तुदादिगणः

[६३] उणादिपाठः-३.१९

[६४] मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः। निरुक्तम्-११.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४६९

[६५] अमरकोषः- २.८.११६, शब्दकल्पद्रुमम्, वाचस्पत्यम्

[६६] पाणिनीयधातुपाठः-स्वादिगणः

[६७] उणादिपाठः-३.४३

इत्यर्थः[६८]।

वरुणशब्दः निरुक्तेऽपि उपर्युक्तप्रकृतिप्रत्ययव्याकृतिरूपं वृणोतीति सत इति निर्वचनपूर्वकञ्च[६९] निष्पन्नः स्वीकृतः। आवृणोति अयं मेघजालेन वियत् इति वायोरर्थे।

निरुक्ते द्वयोः प्रसङ्गयोः वरुणशब्दः अनिष्टनिवारकसूर्यवाचकः[७०] विद्युद्वाचकश्चापि पठितः[७१]।

शब्दकोशेष्वपि शब्दोऽयम् अस्मिन्नेवार्थे पठ्यते। वृणोति सर्वं व्रियते अन्यैरिति वा। अन्येष्वपि बहुष्वर्थेषु पश्चिमदिगधिपतिः सूर्यः विश्वः द्वीपभेदश्चेत्यादिषु वर्तते[७२]।

धारा

धाराशब्दस्य निर्वचनं कुर्वता गोपथब्राह्मणकारेण ऋषिणा शब्दस्यास्य व्युत्पत्तिः धृञ् धारणे[७३] इत्यस्माद् धातोः विहिता। ब्रह्मणा कृतायाः सृष्टिप्रक्रियायाः वर्णनप्रसङ्गे आख्यानेनैकेन निर्वचनमिदमेवं कृतम्। तेन ब्रह्मणा कृतायां सृष्टिप्रक्रियायां तपसः कारणात् समुत्पन्नानां स्वेदधाराणां स्रावः तस्य शरीरे अभूत्। येन प्रसन्नेन ब्रह्मणोक्तं यदहम् एताभिः धाराभिः सर्वं धारयिष्यामि। तदेव धाराणां धारात्वं यच्चासु

---

[६८]यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत् तं वा एनं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते। गोपथब्राह्मणम् १.१.७ ,पृ. १६

[६९]निरुक्तम्-११.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४३३

[७०]येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि। निरुक्तम्-१२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.५०७

[७१] पवित्रवन्तःपरिवाचमासते पितैषां प्रत्नो अभिरक्षति व्रतम्। महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्। निरुक्तम्-१२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.५१३

[७२]अमरकोषः- १.१.६१, २.४.२५, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[७३]पाणिनीयधातुपाठः- भ्वादिगणः

ध्रियते। अर्थात् गोपथब्रह्मणानुसारं धारणात् धारेति निरुच्यते[७४]।

निरुक्तव्याख्याकारैरपि धाराशब्दः प्रवाहाऽर्थे स्वीकृतः[७५]। विभिन्नेषु शब्दकोशेष्वपि शब्दोऽयम् अस्मादेव धातोः परञ्च नानार्थेषु व्याख्यातः। तेष्वर्थेषु अश्वगतिः द्रवद्रव्यस्य प्रपातः इत्यादयः अर्थाः प्रामुख्यं भजन्ते[७६]।

अङ्गिरा

शब्दोऽयं ब्राह्मणे सृष्टिवर्णनक्रमे[७७] व्याख्यातः ऋषिणा। यदा परमेश्वरात् प्रमुच्यन्तं वरुणं स ईश्वरः सर्वतः सम्यगभितपत्। तदा तस्य श्रान्तस्य परमात्मनः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रस अक्षरत्। अङ्गेभ्यः प्रादुर्भूतत्वात् स अङ्गरसोऽभवत्। तदेव अङ्गरस अङ्गिरा इति आख्यायते।

निरुक्तकारेण यास्केन अङ्गारेष्वाङ्गिरा बभूव[७८] इति निर्वचनपूर्वकं 'अगि गतौ'[७९] इत्यस्माद्धातोः बाहुलकात् औणादिकात् इरसुन्प्रत्ययात् अङ्गिराशब्दो निरुच्यते। अथापि अङ्ग्यतेऽन्विष्यते असावङ्गिरा। अङ्गिरःप्रधानकाः गणाश्च अङ्गिरसः कथ्यन्ते।

---

[७४]तदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्चाभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चाभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति। तद्यदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्चेति, तस्माद् धारा अभवंस्तद् धाराणां धारत्वं यच्चासु ध्रियते। गोपथब्राह्मणम् १.१.२

[७५]निरुक्तम्-१०.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४.३७

[७६]अमरकोषः- २.८.४९, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[७७] तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो- रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत् तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याक्षते। परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। गोपथब्राह्मणम् १.१.७

[७८]निरुक्तम्-३.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.१४१

[७९]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

अस्मिन्नेवार्थे कोशेष्वपि निरूपितः अङ्गिराशब्दः। ब्रह्मणो मुखान्निः सरति अङ्गति इति अङ्गिरा। ब्रह्मणः मानसपुत्रः ऋषिविशेषो वा[८०]।

मख

मख इति शब्दः यज्ञार्थकः। गोपथब्राह्मणे शब्दोऽयं निषेधार्थकमापूर्वकात् खनुविदारणे (अवदारणे)[८१] धातोः डप्रत्यये कृते सिद्ध्यति। ऋषिः यज्ञवर्णने निर्दिशति यत् यज्ञः छिद्ररहितः दोषरहितो वा स्यात्। प्रमादात् मन्त्राणां यज्ञविधीनाञ्च अप्रयोगात् अदाक्षिण्यात् प्रायचित्तादीनाञ्च व्यतिक्रमात् यज्ञः छिद्रयुक्तो दूषितो वा सम्पद्यते। एतानुपद्रवान् सम्यक् अधीयानः यज्ञवेत्ता विहितब्रह्मचर्यव्रतः अप्रमत्तश्च विद्वान्नेव अपवारयितुं क्षमः। उच्यते चापि -

छिन्नभिन्नोपध्वस्तो विश्रुतो बहुधा मखः।
इष्टापूर्तद्रविणं गृह्ययजमानस्यावापतत्[८२] ॥

अर्थात् अपध्वस्तः छिन्नश्च यज्ञः विश्रुतोऽपि सन् यजमानानाम् इष्टापूर्तद्रविणादीन् सुकृतांश्च नाशयति[८३]।

निरुक्तेऽप्ययं शब्दः महनीयार्थे यज्ञार्थे[८४] एव प्रयुक्तः प्रतीयते।

कोशग्रन्थेषु अपि मखशब्दः यज्ञार्थकः स्मृतः। मखन्ति गच्छन्ति देवाः। अत्र मखसर्पणे धातोः 'हलश्च'[८५] इति सूत्रेण घञ् प्रत्ययो सति

---

[८०] वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[८१] पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[८२] गोपथब्राह्मणम् २.२.५

[८३] मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं, छिद्रप्रतिषेदसामर्थ्यात्। छिद्रं खमित्युक्तम्, तस्य मेति प्रतिषेधः, मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति। गोपथब्राह्मणम् २.२.५

[८४] निरुक्तम्-३.४, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.१५७

[८५] अष्टाध्यायी-३.३.१२७

सिद्ध्यति मखः शब्दः। यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः इति[८६]।

वस्तुतः व्याकरणेन प्रकृतिप्रत्ययविभाजनपूर्वकं शब्दानां प्रायः बाह्यस्वरूपमात्रं शरीरमात्रं वा प्रकाश्यते परं निर्वचनेन तु तस्यैव शब्दस्यान्तरिकं मूलं वा स्वरूपम् आत्मा वा प्रकटीक्रियते। एतस्मादेव निर्वचनपरम्परायामुक्तिरियं सुप्रसिद्धा विद्वद्भिस्समादृता च। तद्यथा- 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च'[८७]।

गोपथब्राह्मणगतानां निर्वचनानामनुशीलनेनैवं स्पष्टतया प्रतीयते यदत्र मन्त्राणां प्रसङ्गानुकूल्येन शब्दानामर्थमूलानि ऊह्यन्ते। अस्माद् ब्राह्मणग्रन्थाः वैदिकवाङ्मयस्यार्थज्ञानाय साधकतमानि शास्त्राणि[८८] वर्तन्ते इति पौनः पुन्येन निश्चप्रचमुद्घोषयितुं शक्यते। ब्राह्मणग्रन्थाः तत्परम्परानुगामीनि निरुक्तादिशास्त्राणि स्वाभाविकतया मन्त्राणामानर्थक्यापवादान् कौत्सेत्यादीनां[८९] समूलमुच्छिन्दन्ति सर्वार्थसाधकान् वेदान् सुप्रतिष्ठापयन्ति चेत्युपसंहृतिः।

---

[८६] अमरकोषः- २.७.१३, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[८७] निरुक्तम्-१.५

[८८] अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं। निरुक्तम्-१.५

[८९] यदि मन्त्रार्थप्रत्याय अनर्थकं भवतीति कौत्सः। निरुक्तम्-१.५

गोपथब्राह्मणे ब्रह्मचारिस्वरूपम्

राधा[1]

समाजव्यवस्था सुव्यवस्थिता स्यात् एतदर्थं प्राचीनकाले आश्रमव्यवस्था वर्णव्यवस्था च क्रियेते स्म। यथा वर्णव्यवस्था चतुर्धा विभक्ता वर्तते तथैव आश्रमव्यवस्थाऽपि चतुर्धा विभज्यते।

वर्णाः- ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।

आश्रमाः- ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाः।

ग्रन्थेषु शास्त्रेषु वैतेषां वर्णनं विशदरूपेण प्राप्यते। आश्रमव्यवस्था इत्यत्र आश्रमशब्दस्य प्रयोगः सर्वप्रथमस्तावत् श्वेताश्वतरोपनिषदि प्राप्यते। यत्र ब्रह्मविद्यास्थानं सर्वतोऽपरि गण्यते, अर्थात् आश्रमाणां ये क्रियाकलापास्तत्र ब्रह्मविद्यैव प्रशस्तीकरणं धारयति। ब्रह्मविद्याविषय एव प्रशस्यः श्रेष्ठश्च[2]। आश्रमशब्दस्य व्युत्पत्तिर्दीयते - **आ श्राम्यन्ति अस्मिन्निति आश्रमाः** अर्थात् एतादृशी जीवनशैली यस्यां कठोरपरिश्रमोऽपेक्षितः। अत एव आश्रमव्यवस्थायां कठोरनियमानां विधानं विद्यते। आश्रमव्यवस्था निर्दिशति यत् किं मानवजीवनलक्ष्यं, किञ्च सोपानं तस्येति। मानवजीवनस्य परमोद्देश्यं मोक्षप्राप्तिरिति, तत्

---

[1] **शोधच्छात्रा, गुरुकुल-काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालयः), हरिद्वारम्**

[2] अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्० (श्वेता० ६/२२)

प्राप्तये क्रमशः प्रयत्नः कथं भवेदिति, एतादृशानां तथ्यानां विवेचनं नियमनं वा आश्रमव्यवस्थायां प्राप्यते। योगदर्शनानुसारं मानवजीवन लक्ष्यम्- सांसारिकाभ्युदयेन सहितं मोक्षप्राप्तिरिति- **भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।**[३]

अस्मै परमोद्देश्याय ब्रह्मचर्याश्रम आधारशिलारूपेण प्रतिष्ठितोऽस्ति।

आश्रमव्यवस्था भारतीयजीवनदर्शनस्य व्यावहारिकपक्षः। मनुरप्यस्मिन् विषये साक्षादुद्घोषयति—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥[४]

प्रकृतोपयोगित्वात् ब्रह्मचर्याश्रम एव सङ्क्षेपेणाऽत्र प्रस्तूयते—

'ब्रह्मचारी' इत्यत्र द्वयोः शब्दयोः संयोगः ब्रह्म+चारी ब्रह्मणि चरतीति -- ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्म इति प्रणवः, ब्रह्म इति ज्ञानं, ब्रह्म इति रेतस् इत्युक्ते इत्येतेषु त्रिष्वपि अर्थेषु ब्रह्मचारी शब्दः प्रयुज्यते।

ब्रह्मचर्याश्रम उपनयनसंस्कारादेव प्रारभ्यते। उपनयनम् अर्थात् उप-निकषं समीपं, नयनं-प्रापणम्। ज्ञानप्राप्तये शिष्यं गुरोः समीपं नयतीति उपनयनम्। आचार्यः बालकमुपनीय तं तिस्रः रात्र्यः यावत् स्वगर्भमन्तः कृणोति, तद्यथोक्तम् अथर्ववेदे ब्रह्मचर्यसूक्ते मन्त्रद्रष्टा ऋषिणा-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥[५]

मन्त्रेऽस्मिन् रात्रिशब्दस्योल्लेखः, अत्र रात्रेः अज्ञानरूपेण अन्धकारेण साम्यमिष्यते, एतदर्थं मन्त्रेऽस्मिन् रात्रिशब्दस्योल्लेखः प्राप्यते,

---

[३] योग (२/१७)

[४] मनु (६/८७)

[५] अथर्ववेद (११/७)

इति विदुषां मतम्। यज्ञोपवीतसंस्कारेणैव बालकाय गायत्रीमन्त्रं दीयते। शतपथब्राह्मणे आपस्तम्बधर्मसूत्रे[६] च साक्षादुल्लेखः प्राप्यते- यदा तिस्र रात्र्यनन्तरं बालकस्य द्वितीयं जन्म भवति। तस्माद् कारणाद् तदाप्रभृत्येव सः द्विज इति उच्यते। यदा बालकः द्विजसञ्ज्ञां प्राप्नोति तदा प्रभृति आचार्यः तं द्विजशिष्यं सकल्पं सरहस्यं सर्वान् वेदान् अध्यापयति, ब्रह्मविद्याञ्च उपदिशति। मनुस्मृतावपि महर्षिणोक्तम्-

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥[७]

ब्रह्मचर्याश्रमे वसन् कार्ष्णवस्त्रं धारयित्वा वेदाध्ययनं समाप्य सः दीक्षितो दीर्घश्मश्रुःस्वतेजसा बलेन ओजसा स्वतपसा श्रमेण च सर्वान्लोकान् पिपर्ति। गोपथब्राह्मणे महर्षिः निगदति[८]-

ब्रह्मचर्येति समिद्धा कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुरारिचक्रत्।

सः द्विजः समिधया, मेखलया, तपसा च लोकान् पुष्णाति। समिधया, मेखलया, तपसा च कथं पोषणं, तद्वर्णनं गोपथब्राह्मणे इत्थं प्राप्यते-

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधया मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥

समिदेव अग्निं धारयति, मेखला च तमग्निं मर्यादीकृत्य तिष्ठति। श्रमः शब्दोऽत्र स्थूलपुरुषस्य वाचकः, तपश्च सूक्ष्मपुरुषार्थस्य सूचकः, अर्थात् असौ ब्रह्मचारी शारीरिकबलमाध्यात्मिकबलञ्च धारयित्वा तं

---

[६] शत० ब्रा० (११/५/४/१२), आपस्तम्ब० (१/१/१६/१८)

[७] मनु० (२/१४०)

[८] गो०ब्रा० (२/७)

मर्यादितं कुर्यात्, तथा च स्थूलसूक्ष्मपुरुषार्थाभ्यां च लोकान् पुष्येत्, रक्षेत् च।

यदि ब्रह्मचर्यः मर्यादितः स्यात् तदा देवानामनुग्रहोऽपि स्यात् तथा च याः दिव्यशक्तयः तासां संग्रहोऽपि तस्यान्तःकरणे भवति। तस्मिन् देवाःसम्मनसो भवन्ति।[९]

ब्रह्मचारी वेदाध्ययनेन इन्द्रियदमनरूपेण तपोबलेन च सर्वान् सूर्यपृथिवीस्थूलसूक्ष्मपदार्थान् अभिज्ञाय संसारदुःखान् तरति।

यदा ब्रह्मचारिण उपनयनसंस्कारः सम्पन्नः तदैव अनेककर्तव्यानां निर्देशः आचार्यैः क्रियते- मृगचर्मधारणम्, मेखलाबन्धनम्, दीर्घशमश्रुः, समिधाचयनम्, भिक्षेत्यादयः।

इत्थं धर्मग्रन्थेषु ब्रह्मचर्यकर्तव्यानां वर्णनं विशदरूपेण प्राप्यते, अस्यां श्रृंखलायामेव गोपथब्राह्मणे ब्रह्मचारिणः कर्तव्येषु सप्तमनोरागानां दमनं कथं स्यात्, के च ते सप्तमनोरागाः, इत्यस्य वर्णनं विद्यते[१०]-

जायमानः ह वै ब्राह्मणः सप्त इन्द्रियाणि अभिजायन्ते, ब्रह्मवर्चसं च यशः च स्वप्नं च क्रोधं च श्लाघां च रूपं च पुण्यम् एव गन्धं सप्तमम्।

मृगान् अस्य ब्रह्मवर्चसं गच्छति, आचार्यं यशः, अजगरं स्वप्नः, वराहं क्रोधः, अपःश्लाघा, कुमारीं रूपम्, ओषधिवनस्पतीन् पुण्यः गन्धः।

अभिप्रायरूपेणात्राऽहं प्रस्तौमि-

अत्र सर्वप्रथमं ब्रह्मवर्चः उक्तमृषिणा। वेदाध्ययनेन ब्रह्मविद्यामधीत्य असौ ब्रह्मवर्चसी भूयात्, मृगेन अर्थात् मृगचर्मणा निर्मितानि वस्त्राणि धारयेत् यथा मृगः सिंहो वा।

---

[९] गो०ब्रा० (२/१)

[१०] गो०ब्रा० (२/२)

द्वितीयं यशः, ब्रह्मचारी आचार्यात् यशः प्राप्नोति अर्थात् सेवा-शुश्रूषामाध्यमेन आचार्यस्य प्रियं कुर्यात्, वेदाध्ययनञ्च कृत्वा यशः सिञ्चेत्।

अजगरं स्वप्नः, यथा अजगरः शयालुर्भवति तथा ब्रह्मचारी न भूयात्, निद्रामालस्यं वा त्यक्त्वा स्वकर्तव्यानि आचरेत्।

वराहं क्रोधः, यथा शूकरः वराहो वा क्रोधेन संलिप्य झटित्येव आक्रामति तथा ब्रह्मचारी न भवेत्, असौ धैर्यशाली विवेकवान् भूत्वा वाचं यमी भूयात्। इत्थं सर्वेषां किञ्चित् पृथक् वर्णनं गोपथब्राह्मणे प्राप्यते। अयमेव निर्देशः तत्र प्राप्यते यत् ब्रह्मचारी रागद्वेषान् संत्यज्य वेदानधीत्य ब्रह्मवर्चसी भवति।

अन्यदपि उक्तम्-

सः वै एषः उपनयन् चतुर्धा उपैति[११] --

पादेन अग्निम्। पादेन आचार्यम्। पादेन ग्रामम्। पादेन मृत्युम्।

ब्रह्मचारी अग्निहोत्रस्य कृते समिधाचयनं करोति, तदा अग्निं सवते। यदा आचार्यसेवाशुश्रूषां कृत्वा सम्यक्रूपेण वेदानधीते तदा आचार्यं सेवते। यदा भिक्षाटनं कृत्वा भोजनं गृह्णाति तदा ग्रामं सेवते। यदा क्रुद्धेन वाचा कञ्चन न हिनस्ति तदा मृत्युं सेवते अर्थात् क्रोधिस्वभावं (क्रोधं त्यक्त्वा) त्यजति तदा मृत्युं स्ववशे कृत्वा मृत्युं सेवते। गीतायां भगवता वासुदेवेनोच्यते-

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ गीता २.६३

इत्थं क्रोधं त्यक्त्वा मृत्युं स्ववशे करोति। अर्थात् असौ ब्रह्मचारी प्रतिदिनमग्निहोत्रं कुर्यात्। आचार्यसेवां भिक्षाटनं च कुर्वन्

---

[११] गो०ब्रा० (२/३)

नम्रस्वभावयुक्तः सन् ऐश्वर्यवान् भवति। एतानि नित्यकर्तव्यानि ब्रह्मचारिणः कृते शास्त्रोक्तानि विद्यन्ते।

ज्ञानब्रह्मविद्यारूपिकोशयोः प्राप्तिराचार्यसकाशादेव सम्भवति। तदा शिष्याय नियमः क्रियते यत् सः अधिकाधिकज्ञानं प्राप्य अध्यात्मयोगस्य शिक्षां प्राप्नुयात्। तथा प्रचार-प्रसारमाध्यमेन निधेरस्य संरक्षणाय प्रयत्नं विदध्यात्।

ब्रह्मचर्यस्य महत्त्वं प्रतिपादयन् अथर्ववेदे उक्तम्-

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्येण मृत्युं विजयते।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत॥[१२]

ब्रह्मचर्येण तेजस्वितामोजस्विताञ्च प्राप्य असौ न केवलं स्वात्मानपितु अखिलसंसारमवति। ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्येण देवानामंशो भवति अर्थात् दिव्यगुणानां समावेशः तत्र दृश्यते[१३]--

ब्रह्मचारी ... स देवानां भवत्येकमङ्गम्।

राष्ट्ररक्षणायापि ब्रह्मचर्यपालनमावश्यकम्।[१४] पठन-पाठनाय च ब्रह्मचर्यपालनस्य सम्प्रति महती आवश्यकता वरीवर्ति-

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमृच्छते॥

यथा बालकानां कृते ब्रह्मचर्यमावश्यकं तथैव बालिकानां कृतेऽपि ब्रह्मचर्यमतीवावश्यकम्। यदा नारी ब्रह्मचारिणी भूत्वा वेदानध्यष्यते तदा परिवार-समाज-राष्ट्रस्य निर्माणं सम्भवं सरलञ्च भविष्यति। यतः-

स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ, ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

---

[१२] अ० (११/५/१९)

[१३] अ० (५/१७/५)

[१४] अ० (११/५/१७)

शास्त्रेषु ब्रह्मचारिकृते निर्देशः प्राप्यते यत्-असौ लोकहिताय जीवनं यापयेत्, वर्षातुल्यं सर्वेषां कृते पोषकः भवेत्, तथा च गुरुभ्यः वेदानधीत्य सम्यक् रूपेण स्वजीवने परिपाल्य तं निधिं विधिवत् यथाप्रयत्नं वा अवेत् रक्षेदिति।